अनन्तर/जनसत्ता/6 मई, 2007

धंधे की बात

ओम थानवी

कोई आधी रात बीती होगी। फोन बजा। सोए तो नहीं हैं, उधर से आवाज आई। मैंने कहा, बहुत-से लोग जागते हुए भी सोए रहते हैं; सोया हूं तब भी समझिए जागा हूं! वे एक टीवी चैनल से बोल रही थीं। बोलीं, आप जरा टीवी 'ऑन' करें। फिर फोन स्टूडियो में देती हूं। आपका 'फोनो' (विचार) लेंगे।

अनर्थ की अनेक आशंकाओं के बीच मैंने टीवी चलाया। समाचार चैनल पर गया। एक समाजशास्त्री फोन पर पहले से विचार व्यक्त कर रहे थे। हॉलीवुड के रिचर्ड गेयर ने बॉलीवुड की शिल्पा शेट्टी का दिल्ली में चुंबन लिया था। उसे भारतीय संस्कृति पर चोट बताया गया। एड्स जागरण कार्यक्रम के मौके पर हुए इस 'हादसे' का दृश्य चैनल पर बारम्बार दिखाया जा रहा था।

फोन पर मौजूद महिला ने मुझसे पूछा, आपने देखा? मैंने कहा हां, पर उसमें संस्कृति पर हमले जैसा तो कुछ नहीं। फिल्मी लोग हैं, कौतुक करते रहते हैं। पाश्चात्य सभ्यता के रंग-ढंग की शिल्पा खुद एक अंग हैं। उन्हें इसमें तकलीफ नहीं तो दूसरों को क्या पड़ी है? फिर इतना तूल? महिला बोली, मगर जिस तरह शिल्पा ने अपना हाथ छुड़ाया है, उससे नहीं लगता कि यह जोर-जबरदस्ती है? मैंने कहा, मुझे नहीं लगा। खैर, अनुकूल प्रतिक्रिया न पाने की मायूसी के बावजूद, फोन उन्होंने स्टूडियो में 'एंकर' (लंगर से उसका क्या ताल्लुक है, कोई बताए) को दे दिया। मैंने अपनी बात कही। बाद में देखा और लोगों के विचार भी चैनल पर आते रहे। सवाल करने का तरीका ही ऐसा था कि जवाब कमोबेश एक-से थे। एक राय बनती चली जा रही थी।

उधर 'चुंबन' का वह दृश्य भी अपलक-अनवरत परदे पर चलता रहा। मैंने और चैनल पलटे। लगता था भारतीय संस्कृति सचमुच भारी खतरे में पड़ गई हो। सुबह देखा तब भी वे दृश्य कुछ चैनलों के लिए सबसे बड़ी खबर बने हुए थे। फर्क यही था कि प्रतिक्रियाएं अब बगैर मांगे आ रही थीं। देश जाग गया था। शहर-शहर गेयर-शिल्पा के पुतले धधकने लगे। संस्कृति के असली रखवाले सड़कों पर उतर आए। कैमरे-माइक वाले पत्रकार अब उनकी तरफ मुखातिब थे। एक चैनल पर मैंने गेयर-शिल्पा के खिलाफ हुए बड़े शहरों के छुटभैये छह प्रदर्शनों को परदे पर एक साथ समायोजित देखा। इतना विरोध शायद मीका की अश्लील हरकत पर नहीं भड़का था। क्या लोग इसलिए इतने सक्रिय थे कि इस दफा पहल उन्होंने नहीं, मीडिया ने की थी और उन्हें सस्ता प्रचार मिलने की गारंटी थी?

हम जानते हैं टीवी का नया माध्यम अभी कच्ची उम्र में है। उसमें रंग–उमंग, चकाचौंध, अपराध–लोक और हंसी–ठट्ठे का बोलबाला है। पत्र–पत्रिकाओं में जिसे संपादकीय विवेक कहा जाता है, ज्यादातर चैनलों के लिए अभी दूर की चीज है। लेकिन जिस संकीर्ण बुद्धि के लिए बजरंगी प्रतिक्रियावाद या देवबंदी फतवे जाने जाते हैं, अति–उत्साह में गेयर–शिल्पा के मामले में वह भूमिका क्या मीडिया नहीं अदा करने लगा? आपको याद पड़ता है किसी और मामले में मीडिया का एक प्रमुख हिस्सा और बजरंगी सैनिक इस कदर एक धरातल पर आ खड़े हुए हों?

मैंने गेयर की फिल्म 'शैल वी डांस' देखी है। वह जापानी फिल्म भी, जिस पर गेयर वाली फिल्म आधारित है। नृत्य को दफ्तरी तनाव से मुक्ति का उपाय मानकर संजीदा नायक नृत्य सीखता है। जोड़े वाले उस पाश्चात्य नृत्य की एक आम मुद्रा है कि लड़की लड़के के हाथ पर झूल जाती है। अमेरिका से दिल्ली तक गेयर जैसा बौद्ध–अनुयायी बदनाम होने नहीं आया था। फिल्मी हस्तियों से लोग मंच पर अदाओं–संवादों की झलक की अपेक्षा रखते हैं। शायद इस खयाल से शिल्पा के आगे आने पर गेयर ने कपोल पर चुंबन के साथ नृत्य की मुद्रा में उन्हें हाथ पर झुला दिया। कहा जा सकता है कि इससे बचा जा सकता था। मगर इस के साथ यह भी नहीं भूलना चाहिए कि अंततः वह अभिवादन का चुंबन था, भले उसमें अतिरंजना थी।

समाज में अभी औरतों से हाथ मिलाना भी असहज बात हो सकती है। लेकिन ऐसा व्यवहार जिनके स्वभाव में है, उनके लिए वह रोजमर्रा का आचरण है। उसमें कामुकता देखना -- जैसा कि एक न्यायालय ने किया -- चीजों को दायरे से बाहर लाकर देखना है। ऐसी घटनाओं को लेकर संस्कृति पर खतरे का फतवा देना तिल को ताड़ बनाना है। संस्कृतियां क्षणभंगुर नहीं होतीं।

यह जानते हुए कि गेयर–शिल्पा प्रसंग पर बहुत चर्चा हो चुकी है, मैंने उसका जिक्र इसलिए छेड़ा कि यह हमारे टीवी की एक खतरनाक प्रवृत्ति की तरफ इशारा करता है। मैं मानता हूं, टीवी बेहद सशक्त और असरदार माध्यम है। भारत जैसे देश में, जहां निरक्षरता अपार है, टीवी–रेडियो की अहम भूमिका हो सकती है। अखबार पढ़ने के लिए साक्षर होना जरूरी है, टीवी या रेडियो के लिए नहीं।

प्रसारण में रेडियो सबसे कारगर माध्यम है। बदकिस्मती से समाचार–विचार के मामले में हमारे यहां अब भी सरकारी नियंत्रण में हैं। निजी क्षेत्र में वह शोर–शराबे में मशगूल है। फिलहाल कल्पना दूभर है कि रेडियो पर खबरें निजी क्षेत्र में गईं तो उनके साथ वहां क्या सलूक होगा। टीवी हमारे सामने है। वह कितना सार्थक काम कर पा रहा है? निश्चय ही ऐसे समाचार चैनल हैं जो प्रतिबद्ध हैं। वहां अनुभवी पत्रकार और दिशा देने वाले संपादक मौजूद हैं। उन्हें काम की आजादी है और टीवी की प्रिय भाण्डाफोड़ खबरों के अलावा उन्होंने कथित विकास और उसके विरोध में पनपी गतिविधियों को उजागर किया है। वे बड़ा काम करने वाले गुमनाम लोगों को सामने लाए हैं और वाद–विवाद मे ंकई अहम मुद्दों को सुलझी हुई जमीन पर लाने की कोशिश की है।

मगर ऐसे चैनल थोड़े हैं। ज्यादातर समाचार चैनल अभी दिशाहीन हैं। खबर की उनकी परिभाषा खबरों के व्यापार से निकलती है, सरोकार से नहीं। इस गैर–पेशेवराना रवैये में किसी भी हादसे को दुनिया की बड़ी खबर बनाया जा सकता है। उसे घड़ी–घड़ी बगैर किसी परिवर्द्धन के इस तरह दुहराते हुए कि खबर में जितना अर्थ है, वह भी जाता रहे। इससे भी बदतर यह कि दर्जनों चैनल खबरनवीसी के भेष में मनोरंजन का कारोबार करते हैं। दर्शक से उनके लिए विज्ञापनदाता ज्यादा अहमियत रखता है। विज्ञापन की संभावना के मुताबिक कार्यक्रम चलते और रुकते हैं। मनोरंजन के बाद राजनीति आती है। किसी राजनेता के बंगले के बाहर खड़े संवाददाताओं का हुजूम बैठक में जिज्ञासा पैदा करने के बाद बताता है कि भीतर खाना चल रहा है– शायद खत्म हो गया है! दृश्य माध्यम की खूबी यह है कि उसमें एक चंचलता होती है। वह लोगों को बांधे रखती है। बाकी काम 'एंकर' की गुफ्तगू से चलता है। आप (संवाददाता) वहीं बने रहिए और आप (दर्शक) कहीं मत जाइए –– खबरें अभी और भी हैं! कहां हैं?

सिनेमा, क्रिकेट और सनसनी के किस्से उन चैनलों पर हरदम छाए रहते हैं। साथ में मसखरी, खाने–खिलाने, घर सजाने और सैर–सपाटे के कार्यक्रम। एक समाचार चैनल पर सहयोगी चैनल के धारावाहिकों का सार–संक्षेप खबरों की तरह पेश किया जाता है। जाहिर है, ऐसे परिवेश में गंभीर खबरें खुद मनोरंजन की चीज बन कर रह जाती हैं। उन्हें फटाफट अंदाज में पेश किया जाता है। हत्या–बलात्कार की खबरों को नाटक बनाकर प्रस्तुत किया जाता है। इसके लिए नाट्य विद्यालयों में प्रशिक्षित अभिनेताओं को तरजीह दी जाती है। राजनीति की खबरों और चर्चाओं में सुनियोजित ढंग से चुनिंदा चेहरे दिखाए और छिपाए जाते हैं। टॉक–शो स्वस्थ संवाद की जगह प्रतिक्रियाएं आयोजित करने वाले मंच बन कर उभरते हैं।

दरअसल पत्रकारिता का मकसद लोगों को महज सूचना या जानकारी देना नहीं है, उनकी समझ बढ़ाना भी है। मनोरंजन को सर्वोपरि समझने वाली पत्रकारिता कभी यह मकसद हासिल नहीं कर सकती। मनोरंजन–प्रधान टीवी एक विकासशील देश के लिए विलास का शगल नहीं है। वास्तव में वह लोगों की संवेदना को कुंद करता है। उनका ध्यान जागरूक और सशक्त समाज बनने से हटाता है। उन्हें उदासीन, निष्क्रिय और आनंद–मार्गी बनाता है। अशिक्षा, गरीबी, शोषण, मानव–अधिकार, जातिवाद, सांप्रदायिकता, पर्यावरण, कीड़ामार खेती, असंगठित श्रम ऐसे चैनलों के लिए सरोकार से बाहर की चीज हो जाते हैं। और, इस तरह, उनके दर्शकों के लिए भी। भ्रष्टाचार और स्टिंग–कर्म कुछ जगह पा जाते हैं, पर शायद इसलिए कि उनमें अपराध–तत्त्व और रोमांच शरीक है। लेकिन चुनाव सर्वे की तरह स्टिंग का काम भी अब ठेके पर होने लगा है!

सबसे चिंताजनक बात यह कि पत्रकार और मालिक अब एक भाषा बोलते हैं। गए हफ्ते अरसे बाद मैंने एक टीवी–चर्चा में शिरकत की। पहले अक्सर जाता था। जल्दी ही समझा कि वहां पैसा तो मिलता है, लेकिन वक्त बहुत बरबाद होता है। न अपनी बात ठीक से सुनाई जा सकती है,

न दूसरों की बात समझ बढ़ाती है। कार्यक्रम पेश करने वाला भी तैयारी करके नहीं आता। बहरहाल, उस कार्यक्रम के लिए मैं तैयार हुआ क्योंकि चैनल गंभीर था और चर्चा टीवी के मौजूदा हाल पर आयोजित थी। जब दूसरे चैनलों को किसी तरह पछाड़ कर अपने दर्शक बढ़ाने की टीआरपी–कवायद का जिक्र छिड़ा तो मेरी ही बिरादरी के एक संभागी ने समझाने की कोशिश की कि अखबारों में जो प्रसार–संख्या होती है, आखिर वही टीवी में टीआरपी कहलाती है। उसकी परवाह करने से क्या गुरेज? मुझे कहना पड़ा कि ज्यादा प्रसार का मतलब अच्छा अखबार नहीं होता, न ऊंची टीआरपी (टेलीविजन रेटिंग पाइंट्स) किसी चैनल की श्रेष्ठता साबित करती है। हमारा काम धंधे की परवाह करना नहीं है, यह देखना है कि सीमाओं के बीच कितनी जिम्मेवारी से अपने काम को अंजाम दे रहे हैं।

इस सबका यह मतलब न समझें कि अखबारों का हाल बहुत अच्छा है। देश में छापे की दुनिया बहुत समृद्ध रही है। इतनी कि उस पर हर खबरनवीस गर्व कर सकता है। सार्थक पत्रकारिता का हमारी झोली में बड़ा इतिहास है। विवेकवान और विचारसंपन्न संपादकों की लंबी परंपरा है। आजादी के दौर में राजनीतिक दलों की गोपन कारगुजारियों से लेकर भागलपुर–भोपाल के हादसों तक को अखबारों ने ऐसे मानवीय सरोकारों के साथ सामने रखा है कि देश के विकास –– एक सजग समाज के निर्माण –– में उसकी भूमिका को अलग से पहचाना जाएगा। इमरजेंसी के बाद पत्र–पत्रिकाओं की राजनीतिक चेतना और पैनी हुई। समाज के साथ छपे शब्द की शिरकत अटूट रिश्ते में तब्दील होती दिखाई दी। भीड़ में डूबते–उतराते एक बौद्धिक समाज की मौजूदगी का अहसास भी पत्रकारिता की बदौलत संभव हुआ।

लेकिन अब हालात तेजी से बदल रहे हैं। सरोकार रखने वाली पत्रिकाएं बंद हो गई हैं। अखबार अपना चेहरा बदल रहे हैं। यह न समझें कि मैं किसी टीले पर बैठकर उपदेश की मुद्रा अपना रहा हूं। यह अपनी दुनिया को भीतर से देखने की कोशिश है। विचार जहां विदाई की राह पर हैं। विचारक वे हैं, जिनकी तस्वीरें लोग उनके ‘लेखों’ के साथ पहचानते हैं। वे नेता हो सकते हैं, वकील और व्यापारी भी। उनकी राय आपकी मेधा को मांजती नहीं, बुद्धि को भ्रमित जरूर किए रखती है।

कोई वक्त था, जब अखबार हरावल थे। टीवी उनके पीछे चलता था। चैनल छपी खबरों को आगे बढ़ाते थे। टीवी में गंभीरता बने रहने की उम्मीद इस वजह से भी थी कि वहां बहुत से लोग अखबारों से गए थे। लेकिन यह भ्रम टूटने में वक्त नहीं लगा। और अब टीवी की खबरें और तस्वीरें अखबारों को प्रभावित करती हैं। उन्हें सविस्तार उद्धृत किया जाता है। इसमें शायद हर्ज की बात न हो। एक राह के मुसाफिर आपसी रिश्ता रखते हैं। मगर क्या दोनों का रास्ता सच में एक है?

रास्ते पहले जुदा थे, अब जब–तब एक होते दिखाई देते हैं। साधन के मामले में ज्यादा, साध्य में भले कम। मुश्किल यह है कि टीवी तो अखबार की तरफ नहीं आया, कुछ अखबार टीवी

की तरफ कदम बढ़ाते जरूर देखे जा सकते हैं। लगता है अखबार को टीवी की भूमिका में तब्दील करने की जद्दोजहद घर कर रही हो। मुखड़े-भर की संक्षिप्त खबरें जो दिमाग पर बोझ न डालें ; अपराध-कथाएं; ढेर तस्वीरें; पाठक को नादान मान छोटे जुमलों में पेश मोटी इबारतें; खबरों के डिब्बाबंद खुलासे; घर-परिवार के परिशिष्ट; धार्मिक प्रवचन; रोजगार के नुस्खे; सैर की सलाह; लतीफे। गेयर-शिल्पा का 'चुंबन' विवाद बन गया है, यह 'जानकारी' देते हुए अगले रोज कई अखबारों ने टीवी वाली तस्वीर को पहले पेज पर छापा था। कहना न होगा, टीवी की तरह, एड्स-विरोधी अभियान के कार्यक्रम का ब्योरा देना उन अखबारों को गवारा नहीं हुआ।

बड़ी दुर्घटना भाषा के साथ हुई है। भाषा पत्रकारिता का मूल उपकरण है। कमजोर भाषा में सशक्त अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। हिंदी की शब्द संख्या विशद है। लेकिन अखबारों को देखकर शायद ही किसी को इसका अहसास हो। हिंदी को सबसे पहले टीवी ने 'हिंगलिश' बनाया। फिर विज्ञापनों ने। अब बड़े-बड़े अखबार उसके नक्शे-कदम पर हैं। मजे की बात यह है कि कभी किसी खबर का भूल-सुधार न करने वाले टीवी जगत ने भाषा की फिसलन थोड़ी संभाल ली है। अब वहां बचकानी हिंदी से कुछ बचा जाता है। लेकिन कतिपय अखबारों ने उनकी भूल को लगता है हमेशा के लिए ओढ़ लिया है। कई पत्रकार न चाहते हुए भी अधकचरी भाषा बरतते हैं, क्योंकि यह उनके 'अखबार की नीति' है!

दिल्ली के दो नामी समूहों के हिंदी अखबारों में पहले पृष्ठ के शीर्षक हैंः सोनिया पावरफुल, लादेन इन, बुश आउट; हाईकोर्ट के तीस जजों के नाम यूपी वोटर लिस्ट से गायब। हाल में जयपुर में एक सुबह दो अखबार देखे। दोनों गलाकाट प्रतिद्वंद्वी हैं, लेकिन भाषा के मामले में सहोदर। एक अखबार के शीर्षकः एसबीआई कार्ड पर फ्यूल सरचार्ज नहीं; स्टूडेंट जानेंगे किस फील्ड में बनाएं करियर; नेगेटिव शेड में काम करने का स्कोप अधिक। दूसरे अखबार की बानगीः सस्ते होंगे होम लोन; हॉट समर में हॉलीवुड शॉट; क्रिएटिविटी को उभारेगा एग्ज्यूब्रेंस। ज्यादातर शीर्षक शहर पर केंद्रित पन्नों के हैं। कौन कह सकता है उन्हें देर-सबेर पहले पन्ने पर ले आने में किसी को संकोच होगा!

अखबारों की टीवी-परस्ती के कई उदाहरण दिए जा सकते हैं। ताजा अभिषेक-ऐश्वर्या की शादी का है। कई अखबारों में विवाह की छोटी- और वाजिब- खबर छपी। टीवी के पास कुछ नहीं था, पर वे अमिताभ बच्चन के घर के भीतर जाने न जाने वालों की भीड़ दिखाकर खुश थे। अगले रोज कुछ अखबारों ने, जाहिर है टीवी की तर्ज पर, तस्वीरों का अंबार लगा दिया। शादी पर केंद्रित रंगारंग परिशिष्ट प्रकाशित हुए।

इन अखबारों के संपादकों की शायद एक ही दलील हो कि ''लोग'' यही सब देखना चाहते हैं। हिंदी के एक बहुत बिकने वाले अखबार के संपादक ने- जो मेरे मित्र हैं- जाने किस बोध से संपादकीय पृष्ठ पर एक लेख लिखा है, जो नए रुझान को स्पष्ट करता है। अभिषेक-ऐश्वर्या विवाह के 'मीडिया कवरेज' के संदर्भ में यह कहते हुए कि ''इस तरह की शादियां एक नशा होती हैं और उनकी अनदेखी नहीं की जा सकती'', वे बताते हैं कि पाठक को क्या चाहिएः

''क्या यह सुकून की बात नहीं कि पाठक सुबह-सुबह चाय की प्यालियों के बीच अखबार के पहले पन्ने पर अपने राजनीतिक कर्णधारों को किसी दूसरे की बीवी के साथ पुलिस की जीप में सवार देखने के बजाय किसी विश्व सुंदरी का चेहरा मेंहदी रचे हुए हाथों के साथ देखें? मीडिया को पूरी जानकारी है कि पाठक कटारा को कितना और कैटरीना को कितना देखना और पढ़ना चाहते हैं।''

विनय के साथ, मैं अपने आपको इस धारणा से सहमत नहीं कर पाता। पाठक क्या चाहते हैं, यह धुंधली कल्पना है। दूसरे, पाठकों की हर चाह बुझाना मीडिया का कर्त्तव्य हो, पत्रकारिता का यह सर्वमान्य सिद्धांत नहीं है। समाज को कमतर आंकना व्यापार के लिए फायदेमंद हो सकता है, समाज और खुद मीडिया के लिए नहीं। बेगानी शादी पर मकबूल फिदा हुसेन की कलाकृति की खबर बढ़-चढ़ कर प्रचारित करने वाले मीडिया का क्या यह नैतिक दायित्व नहीं बनता कि वह कभी इसकी पड़ताल करता, कला-विरोधी सांप्रदायिक हरकतों, अदालतों के अबूझ तेवर और सरकार की बेरुखी के चलते हुसेन जैसे चित्रकार को अपना मुल्क छोड़कर क्यों जाना पड़ा? इस मामले में चुप रह कर मीडिया ने किन ताकतों का साथ दिया?

नहीं मालूम हमेशा 'लोकप्रिय' राय के साथ रहना भाजपा के मानव-तस्कर सांसद कटारा की सनसनीखेज खबर के सामने कैटरीना (कैफ) को सचमुच कितना महत्त्व दिलाता है। लेकिन जानकारी के अधिकार के युग में उसे तवज्जो देना नेताओं की कलई उतारने वाली बड़ी जानकारी को एक अदाकारा की देह की ओट में छुपाना है। लोग आखिर अखबार खरीदते हैं, कैलेंडर नहीं।

खुशी की बात है कि हमारे यहां ऐसे अनेक टीवी चैनल हैं जो कटारा की कबूतरबाजी पर कैटरीना को तरजीह नहीं देते। तसल्ली इसमें है कि बहुत सारे अखबार हैं जो पाठकों के सुकून के लिए अलस्सुबह किसी विश्वसुंदरी की तस्वीर परोसना लाजिमी नहीं समझते।